1] द्वैध शासन ——— 1765 — 1772
2] कंपनी का शासन ——— 1772
3] रेगुलेटिंग एक्ट ——— 1773
4] पिट्स इंडिया एक्ट ——— 1784
5] लाभांश की दर 1767 में 10% और 1771 में 12.5% पर पौंड देना अनिवार्य बना दिया।
6] 1767 में संसद ने एक कानून बनाकर कंपनी से प्रति वर्ष 400000 पौंड देना अनिवार्य बना दिया।
7] एडम स्मिथ — वैल्थ ऑफ नेशंस
8] क्लाईव — 40,000 पौंड

अध्याय : 3

भारत में ब्रिटिश साम्राज्य की आर्थिक नीतियां और प्रशासनिक ढांचा (1757-1857)

भारत के विशाल साम्राज्य को हथिया लेने के बाद इस पर नियंत्रण रखने और शासन चलाने के लिए ईस्ट इंडिया कंपनी को उपयुक्त तरीके तैयार करने पड़े । 1757 से 1857 की लंबी अवधि के दौरान कंपनी की प्रशासनिक नीति अक्सर बदलती रही । फिर भी इसने अपना मुख्य लक्ष्य कभी आंखों से ओझल नहीं होने दिया, वे लक्ष्य थे : कंपनी के मुनाफे में बढ़ोतरी, भारत पर अधिकार को ब्रिटेन के लिए फायदेमंद बनाना, तथा भारत पर ब्रिटिश पकड़ को कायम रखना और उसे सुदृढ़ करना; इसके अतिरिक्त जितने उद्देश्य थे वे इन उद्देश्यों की मदद के लिए थे । भारत सरकार का प्रशासनिक ढांचा इन्हीं लक्ष्यों को पूरा करने के लिए बनाया और विकसित किया गया था । इस मामले में मुख्य जोर कानून और व्यवस्था को बनाए रखने पर दिया जाता था ताकि बिना व्यवधान के भारत के साथ व्यापार किया जा सके और इसके संसाधनों का दोहन किया जा सके ।

सरकार का ढांचा

ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों ने 1765 में जब बंगाल पर नियंत्रण कर लिया तो इसके प्रशासनिक ढांचे में कोई नया परिवर्तन करने का उनका नाममात्र को भी इरादा नहीं था । वे सिर्फ अपना लाभकारी व्यापार जारी रखना चाहते थे और चाहते थे कि कर वसूल कर उसको इंग्लैंड भेजते रहे । 1765 से 1772 तक, जब दोनों ही सरकारें एक साथ काम कर रही थीं । भारतीय अधिकारियों को पहले जैसे काम करने की अनुमति थी लेकिन ऐसा ब्रिटिश गवर्नर तथा ब्रिटिश अधिकारियों की देखरे में ही कर सकते थे । भारतीय अधिकारियों के पा दायित्व थे लेकिन अधिकार नहीं थे, इसके विपरी कंपनी के अधिकारियों के पास अधिकार पूरे लेकिन उनका कोई दायित्व नहीं था । दोनों तरफ के अधिकारी भ्रष्ट और दुराचारी लोग थे 1772 में कंपनी ने दोहरी शासन व्यवस्था समाप्त क दी और बंगाल का शासन अपने हाथ में लेकर अप अधिकारी नियुक्त कर दिए । लेकिन विशुद्ध रूप व्यापार करने वाली कंपनी में जो अंतर्निहित बुराइ होती है, वे जल्दी ही स्पष्ट झलकने लगीं ।

इस समय तक ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापा कंपनी थी जिसका ढांचा पूर्वी देशों से व्यापार लिए बनाया गया था । इसके साथ ही इसका सर्वो अधिकारी इंग्लैंड में रहता था, वह भारत से हजा मील की दूरी पर था । इसके बावजूद करोड़ों लो के ऊपर इसने राजनीतिक आधिपत्य कायम क लिया था । इस असामान्य स्थिति के कारण ब्रिटि सरकार के आगे अनेक समस्याएं खड़ी हो गई ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके साम्राज्य का ब्रिटे की सरकार के साथ क्या संबंध हो ? ब्रिटेन में कं कंपनी के अधिकारीगण हजारों मील दूर भारत स्थित अधिकारियों और सैनिकों की विशाल सं पर किस प्रकार नियंत्रण करें ? बंगाल, मद्रास औ बंबई में बिखरे हुए कंपनी के अधिकार-क्षेत्रों के लि भारत में एक ही नियंत्रण केंद्र किस प्रकार स्थापि किया जाए ?

इनमें से पहली समस्या सबसे विकट थी औ

Scanned with CamScanner

सबसे महत्वपूर्ण भी । इसके अलावा यह समस्या ब्रिटेन में जारी दलगत और संसदीय दांव-पेंचों से, अंग्रेज राजनेताओं की राजनीतिक महत्वकांक्षाओं से और अंग्रेज व्यापारियों के व्यापारिक लोभ से भी घनिष्ठ रूप से जुड़ी हुई थी । बंगाल के भारी संसाधन कंपनी के हाथों में आ गए थे और उसके मालिकों ने फौरन ही लाभांश की दर बढ़ाकर 1767 में दस प्रतिशत कर दी थी, और 1771 में उन्होंने इसे और भी बढ़ाकर साढ़े बारह प्रतिशत करने का प्रस्ताव रखा था । कंपनी के अंग्रेज सेवकों ने अपनी स्थिति का लाभ उठाकर गैरकानूनी और असमान व्यापार से तथा भारतीय शासकों और जमींदारों से जबर्दस्ती रिश्वतें और 'तोहफे' वसूल करके तेजी से धन कमाया था । क्लाइव जब 34 वर्ष की आयु में इंग्लैंड लौटा तो उसके पास इतनी संपत्ति थी कि उसे प्रति वर्ष 40,000 पौंड की आय हो सके ।

कंपनी द्वारा दिए जा रहे लाभांश की ऊंची दरों और उसके अधिकारी जो भारी संपत्ति लेकर स्वदेश लौटते उसने ब्रिटिश समाज के दूसरे वर्गों में भी ईर्ष्या की आग झड़का दी । कंपनी के एकाधिकार के कारण पूर्व के साथ व्यापार न कर पा रहे व्यापारी, उद्योगपतियों का उभरता वर्ग तथा, आम तौर पर, ब्रिटेन में मुक्त उद्यम की उभरती शक्तियां—ये सभी उस लाभकारी भारतीय व्यापार और भारत की विशाल संपत्ति में हिस्सा बंटाना चाहते थे जिसका अभी तक कंपनी और उसके सेवक ही उपयोग कर रहे थे । इसलिए इस व्यापार पर कंपनी के एकाधिकार को तोड़ने के लिए जी-तोड़ कोशिश की और इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए उन्होंने बंगाल में कंपनी के शासन पर हमला किया । उन्होंने भारत से ब्रिटेन लौटने वाले कंपनी के अधिकारियों को अपना खास निशाना बनाया । इन अधिकारियों को 'नवाब' कहकर उनकी हंसी उड़ाई जाती थी तथा प्रेस में और मंच पर उनका मजाक उड़ाया जाता था । अभिजात वर्ग ने उनका बहिष्कार किया और भारतीय जनता का शोषक और उत्पीड़क कहकर उनकी निंदा की । उनके दो खास निशाने क्लाइव और वारेन हेस्टिंग्ज थे । कंपनी के विरोधियों को आशा थी कि 'नवाबों' की निंदा करके वे कंपनी को अलोकप्रिय बना सकेंगे और फिर उसे स्थानच्युत कर सकेंगे ।

अनेक मंत्री और संसद के दूसरे सदस्य भी बंगाल की संपत्ति से लाभ उठाने के लिए उत्सुक थे । उन्होंने जनसमर्थन पाने के लिए कंपनी को मजबूर किया कि वह ब्रिटिश सरकार को खिराज दे ताकि भारत से प्राप्त राजस्व के सहारे इंग्लैंड में टैक्सों या सार्वजनिक ऋणों को बोझ कम किया जा सके । 1767 में संसद ने एक कानून बनाकर कंपनी के लिए ब्रिटिश खजाने में प्रति वर्ष चार लाख पौंड देना अनिवार्य बना दिया । ब्रिटेन के अनेक राजनीतिक विचारक और राजनेता कंपनी और उसके अधिकारियों की गतिविधियों पर अंकुश लगाना चाहते थे, क्योंकि उन्हें डर था कि शक्तिशाली बनकर कंपनी और उसके अधिकारी अंग्रेज राष्ट्र और उसकी राजनीति को भ्रष्ट कर सकते थे । 18वीं सदी के उत्तरार्ध में ब्रिटेन की राजनीति अत्यंत ही भ्रष्ट हो चुकी थी । कंपनी और उसके अधिकारियों ने अपने एजेंटों के लिए पैसे के बल पर हाउस आफ कामंस की सदस्यताएं प्राप्त की थीं । अनेक अंग्रेज राजनेताओं को चिंता लगी थी कि भारत की लूट के बल पर कंपनी और उसके अधिकारी ब्रिटिश सरकार पर निर्णायक प्रभाव डालने की स्थिति में आ जाएंगे । कंपनी और उसके विशाल भारतीय साम्राज्य पर अंकुश लगाना आवश्यक है, वरना भारत की स्वामिनी बनकर कंपनी ब्रिटिश प्रशासन पर नियंत्रण स्थापित कर लेगी और ब्रिटिश जनता की स्वतंत्रता नष्ट करने की स्थिति में आ जाएगी ।

मात्र कंपनी को प्राप्त विशेषाधिकारों पर अर्थशास्त्रियों के उस उभरते वर्ग ने भी चोट की जो मुक्त व्यापार और उद्योग पर आधारित पूंजीवाद का प्रतिनिधित्व करते थे । शास्त्रीय अर्थशास्त्र के संस्थापक एडम स्मिथ ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "राष्ट्रों की संपत्ति" (वेल्थ ऑफ नेशंस) में सीमित सदस्यता वाली कंपनियों की निंदा की:

> इस तरह इस प्रकार की सीमित कंपनियां अनेक अर्थों में क्षतिकारी हैं । वे जिन देशों में स्थापित होती हैं उनके लिए कमोबेश असुविधाजनक होती हैं, और जिन देशों में दुर्भाग्य से उनकी सरकार स्थापित हो चुकी है, उनके लिए विध्वंस का कारण होती हैं ।

इस तरह ब्रिटिश राज्य तथा कंपनी के अधिकारियों के पारस्परिक संबंधों का पुनर्गठन आवश्यक हो गया । फिर एक समय ऐसा आया जब कंपनी को सरकार से दस लाख पौंड का ऋण मांगना पड़ा । लेकिन अगर कंपनी के अनेक शक्तिशाली शत्रु थे तो

Scanned with CamScanner

1773 रेगुलेटिंग एक्ट के तहत कंपनी के कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स के गठन में परिवर्तन हुआ
1784 – पिट्स इंडिया एक्ट – भारतीय मामलों की देख-रेख के लिए Board of Control जिसमें 6 कमिश्नर नियुक्त किए, जिसमें दो कैबिनेट मंत्री भी शामिल होते थे। इस कानून ने काफ

के शासन को गवर्नर जनरल तथा तीन सदस्यों वाली एक कौंसिल के हाथों में दे दिया।
बंबई और मद्रास कलकत्ता के अधीन।

संसद में उसके शक्तिशाली मित्र भी थे। इसके अलावा सम्राट जार्ज तृतीय उसके संरक्षक थे। इसलिए कंपनी ने जमकर शत्रुओं का सामना किया। अंत में संसद ने एक समझौते का रास्ता निकाला, जिसके अनुसार कंपनी के हितों तथा ब्रिटिश समाज के विभिन्न प्रभावशाली वर्गों के बीच एक नाजुक संतुलन कायम हो गया। यह तय किया गया कि कंपनी के भारतीय प्रशासन की बुनियादी नीतियों पर ब्रिटिश सरकार का नियंत्रण रहेगा ताकि भारत में ब्रिटिश शासन को ब्रिटेन के उच्च वर्गों के सामूहिक हित में चलाया जा सके। साथ ही पूर्व के साथ व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार बना रहेगा तथा भारत में उच्च अधिकारी नियुक्त करने का उसका बहुमूल्य अधिकार भी उसी के हाथों में रहेगा। भारत के प्रशासन का विस्तृत ब्यौरा कंपनी के डायरेक्टरों के लिए छोड़ दिया गया।

1773 का रेगुलेटिंग एक्ट कंपनी की गतिविधियों से संबंधित पहला महत्वपूर्ण संसदीय कानून था। इस कानून के कारण कंपनी के कोर्ट आफ डायरेक्टर्स के गठन में परिवर्तन हुआ तथा उनकी गतिविधियां ब्रिटिश सरकार की निगरानी में आ गईं। पर रेगुलेटिंग एक्ट व्यवहार में जल्द ही बेकार सिद्ध हो गया। इसके कारण ब्रिटिश सरकार को कंपनी पर प्रभावी और निर्णायक नियंत्रण नहीं मिल सका। यह कानून कंपनी और उसके उन विरोधियों के झगड़े को भी सुलझा नहीं सका जो लगातार शक्तिशाली और मुखर होते जा रहे थे। इसके अलावा कंपनी अपने शत्रुओं के हमलों का निशाना बनी रही, क्योंकि उसके भारतीय अधिकार-क्षेत्रों का प्रशासन भ्रष्ट, दमनकारी और आर्थिक दृष्टि से विनाशकारी ही बना रहा।

रेगुलेटिंग एक्ट के दोषों तथा ब्रिटिश राजनीति के उतार-चढ़ाव के कारण 1784 में एक और कानून बनाना पड़ा जिसे पिट का इंडिया एक्ट कहा जाता है। इस कानून के बल पर ब्रिटिश सरकार का कंपनी के मामलों पर तथा उसके भारतीय प्रशासन पर पूरा नियंत्रण स्थापित हो गया। उसने भारतीय मामलों की देख-रेख के लिए छः कमिश्नर नियुक्त किए। इसी को बोर्ड आफ कंट्रोल कहा जाता है जिसमें दो कैबिनेट मंत्री भी शामिल होते थे। अब कोर्ट आफ डायरेक्टर्स और भारत सरकार के कार्यों का मार्गदर्शन और संचालन इसी बोर्ड आफ कंट्रोल को करना था। इस कानून ने भारत के शासन को गवर्नर-जनरल तथा तीन सदस्यों वाली एक कौंसिल के हाथों में दे दिया ताकि अगर एक सदस्य का समर्थन भी गवर्नर-जनरल को प्राप्त हो तो वह अपनी बात मनवा सके। इस कानून ने बंबई और मद्रास प्रेसिडेंसियों को युद्ध, कूटनीति और राजस्व के मामलों में स्पष्ट शब्दों में बंगाल के अधीन कर दिया। इस कानून के साथ भारत में ब्रिटिश विजय का एक नया युग आरंभ हुआ। इस प्रकार ईस्ट इंडिया कंपनी ब्रिटेन की राष्ट्रीय नीति का एक साधन बन गई, और अब भारत का शासन इस प्रकार चलाया जाना था कि उससे ब्रिटेन के शासक वर्गों के सभी भागों के हित पूरे हो सकें। भारत और चीन के साथ व्यापार पर अपना एकाधिकार सुरक्षित पाकर कंपनी भी संतुष्ट हो गई। भारत में ब्रिटिश अधिकारियों को नियुक्त करने तथा सेवा मुक्त करने का लाभदायी अधिकार डायरेक्टरों के हाथों में बना रहा। इसके अलावा भारत की सरकार को भी उन्हीं के माध्यम से चलाए जाने की व्यवस्था थी।

पिट के इंडिया एक्ट ने वह सामान्य ढांचा तो निर्धारित कर दिया जिसमें भारत की सरकार 1857 तक चलाई गई, पर बाद के कानूनों ने अनेक ऐसे महत्वपूर्ण परिवर्तन किए जिनसे कंपनी की शक्तियों और विशेषाधिकारों में धीरे-धीरे कमी आई। 1776 में गवर्नर-जनरल को यह अधिकार दे दिया गया कि वह भारतीय साम्राज्य की शांति, सुरक्षा या उसके हितों को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण प्रश्नों पर अपनी कौंसिल की राय को ठुकरा सके।

1833 के चार्टर एक्ट के अनुसार भारतीय व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार समाप्त हो गया और सभी ब्रिटिश नागरिकों को भारत के साथ व्यापार करने की छूट दे दी गई। पर चाय के व्यापार पर और चीन के साथ व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार बना रहा। किंतु भारत की सरकार तथा उसका राजस्व कंपनी के हाथों में ही बने रहे। भारत में अधिकारियों की नियुक्ति का अधिकार भी कंपनी के हाथों में ही रहा। 1813 के चार्टर एक्ट ने चाय के व्यापार तथा चीन के साथ व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार समाप्त कर दिया। साथ ही कंपनी के सभी ऋण भारत सरकार ने अपने ऊपर ले लिए। अब उसे ही कंपनी के सभी शेयर होल्डरों को उनकी पूंजी पर साढ़े दस प्रतिशत लाभांश भी देना था। बोर्ड आफ कंट्रोल के कड़े नियंत्रण में रहकर भारत में कंपनी सरकार चलाती रही।

(3) 1833 के चार्टर एक्ट के तहत भारतीय व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार समाप्त हो गया पर चाय के व्यापार पर और चीन के साथ व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार बना रहा।

Scanned with CamScanner

(1) 1793 में लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल सरकार के लिए दो प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किए — (1) राजनीतिक सुरक्षा तथा (2) भारत पर अधिकार को ईस्ट इंडिया कंपनी तथा ब्रिटिश राष्ट्र के लिए यथासंभव लाभदायी बनाना
(2) रॉबिन्सन क्रूसो — डैनियल डिफो (3) हॉलैंड को छोड़कर दूसरे यूरोपीय देशों ने भारतीय माल पर प्रतिबंध लगाया

इस तरह ऊपर वर्णित विभिन्न संसदीय कानूनों ने कंपनी तथा उसके भारतीय प्रशासन को पूरी तरह ब्रिटिश सरकार के अधीन बना दिया । साथ ही यह भी माना जाने लगा कि भारत का रोजमर्रा का प्रशासन 6,000 मील दूर रहकर नहीं चलाया जा सकता, न ही उस पर निगरानी रखी जा सकती है । इसलिए गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल को सर्वोच्च अधिकार दे दिया गया । चूंकि महत्वपूर्ण प्रश्नों पर कौंसिल की राय को ठुकराने का अधिकार भी गवर्नर-जनरल को था, इसलिए अब वही भारत का वास्तविक और प्रभावी शासक बन गया और ब्रिटिश सरकार की निगरानी, नियंत्रण तथा मार्गदर्शन में शासन चलाने लगा ।

अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अंग्रेजों ने भारत में प्रशासन की एक नई प्रणाली स्थापित की । लेकिन इस प्रणाली की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करने से पहले अच्छा यह होगा कि हम उन उद्देश्यों को समझ लें जिनकी पूर्ति के लिए यह प्रणाली बनाई गई । कारण कि किसी देश की प्रशासन-प्रणाली का प्रमुख कार्य यह होता है कि वह उसके शासकों के उद्देश्यों और लक्ष्यों की पूर्ति कर सके । अंग्रेजों का प्रमुख उद्देश्य यह था कि कंपनी से लेकर लंकाशायर के उद्योगपतियों तक ब्रिटेन के विभिन्न वर्गों के अधिकतम लाभ के लिए वे भारत का आर्थिक शोषण कर सकें । 1793 में गवर्नर-जनरल लार्ड कार्नवालिस ने बंगाल सरकार के लिए दो प्रमुख उद्देश्य निर्धारित किए । ये उद्देश्य थे, 'राजनीतिक सुरक्षा सुनिश्चित करना' तथा 'भारत पर अधिकार को ईस्ट इंडिया कंपनी तथा ब्रिटिश राष्ट्र के लिए यथासंभव लाभदायी बनाना ।' साथ ही भारत पर विजय तथा उस पर विदेशी शासन का पूरा खर्च भी स्वयं भारत से ही निकाला जाना था । इसलिए भारत में अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों की जांच-पड़ताल परम आवश्यक है ।

भारत में अंग्रेजों की आर्थिक नीतियां (1757-1857)

वाणिज्य-नीति : 1600 से 1757 तक भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी की भूमिका एक ऐसे व्यापारिक निगम की थी जो भारत में माल या बहुमूल्य धातुएं लाता था तथा उनके बदले कपड़े, मसाले, आदि भारतीय माल लेकर उन्हें विदेशों में बेचता था । इसके मुनाफे का मुख्य स्रोत विदेशों में भारतीय माल का विक्रय था । स्वाभाविक था कि कंपनी ब्रिटेन और दूसरे देशों में भारतीय मालों के लिए नए बाजार लगातार खोजती रहती थी । इस प्रकार उसने भारतीय मालों का निर्यात बढ़ाया, तथा उनके उत्पादन को प्रोत्साहन मिला । यही कारण था कि भारतीय शासक भारत में कंपनी द्वारा फैक्टरियों की स्थापना को सह लेते, बल्कि इसे प्रोत्साहित भी करते थे ।

(1) 1600—1757 — व्यापारिक निगम

पर आरंभ से ही ब्रिटिश उद्योगपति ब्रिटेन में भारतीय वस्त्रों की लोकप्रियता से ईर्ष्या करते रहे । वस्त्रों का फैशन एकाएक बदल गया तथा अंग्रेजों के खुरदुरे ऊनी कपड़ों की जगह हल्के सूती वस्त्रों ने ले ली । प्रसिद्ध उपन्यास राबिन्सन क्रूसो के लेखक डेनियल डिफो की शिकायत थी कि "भारतीय वस्त्र हमारे घरों, हमारे कक्षों तथा हमारे शयनागारों में भी प्रवेश कर चुके हैं; पर्दे, गद्दे, कुर्सियां और अंत में हमारे बिस्तर भी मलमल या भारतीय वस्तुओं के अलावा कुछ नहीं रहे ।" भारतीय मालों के ब्रिटेन में विक्रय को कम कराने या समाप्त कराने के लिए ब्रिटिश उद्योगपतियों ने अपनी सरकार पर दबाव डाला । 1720 तक छापेदार या रंगे सूती वस्त्रों के व्यापार पर प्रतिबंध लगाने वाले कानून बन चुके थे । 1760 में एक भद्र महिला को आयातित रूमाल रखने पर दो सौ पौंड का जुर्माना देना पड़ा था । इसके अलावा सादे वस्त्रों के आयात पर भारी महसूल लगाए गए । हालैंड को छोड़कर दूसरे यूरोपीय देशों ने भी भारतीय वस्त्रों के आयात पर या तो प्रतिबंध लगा दिए या उन पर भारी आयात-शुल्क लगा दिए । लेकिन इन कानूनों के बावजूद भारत के रेशमी और सूती वस्त्र 18वीं सदी के मध्य तक विदेशी बाजारों में जमे रहे । मगर तब तक नई और विकसित प्रौद्योगिकी के आधार पर ब्रिटेन का वस्त्र उद्योग पनपने लगा था ।

भारत के साथ कंपनी के व्यापारिक संबंधों में 1757 के प्लासी-युद्ध के बाद एक गुणात्मक परिवर्तन आया । अब बंगाल पर अपने राजनीतिक नियंत्रण के सहारे कंपनी भारतीय व्यापार और उत्पादन पर एकाधिकारपूर्ण नियंत्रण स्थापित कर सकती थी और अपना भारतीय व्यापार बढ़ा सकती थी । इसके अलावा कंपनी ने भारतीय मालों का निर्यात बढ़ाने के लिए, बंगाल से प्राप्त राजस्व का भी उपयोग किया । 1750-51 में भारतीय कारखानेदारों ने ब्रिटेन को 15 लाख पौंड का भारतीय माल निर्यात किया था, जिसे कंपनी की गतिविधियों के कारण 1797-98 तक बढ़कर 5.8 लाख पौंड हो जाना

Scanned with CamScanner

(1) भारतीय हस्त शिल्प को असल धक्का लगा 1813 के बाद जब उसके हाथों से विदेशी बाजार ही नहीं छिन गए बल्कि इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उससे स्वयं भारतीय बाजार भी छीन गया

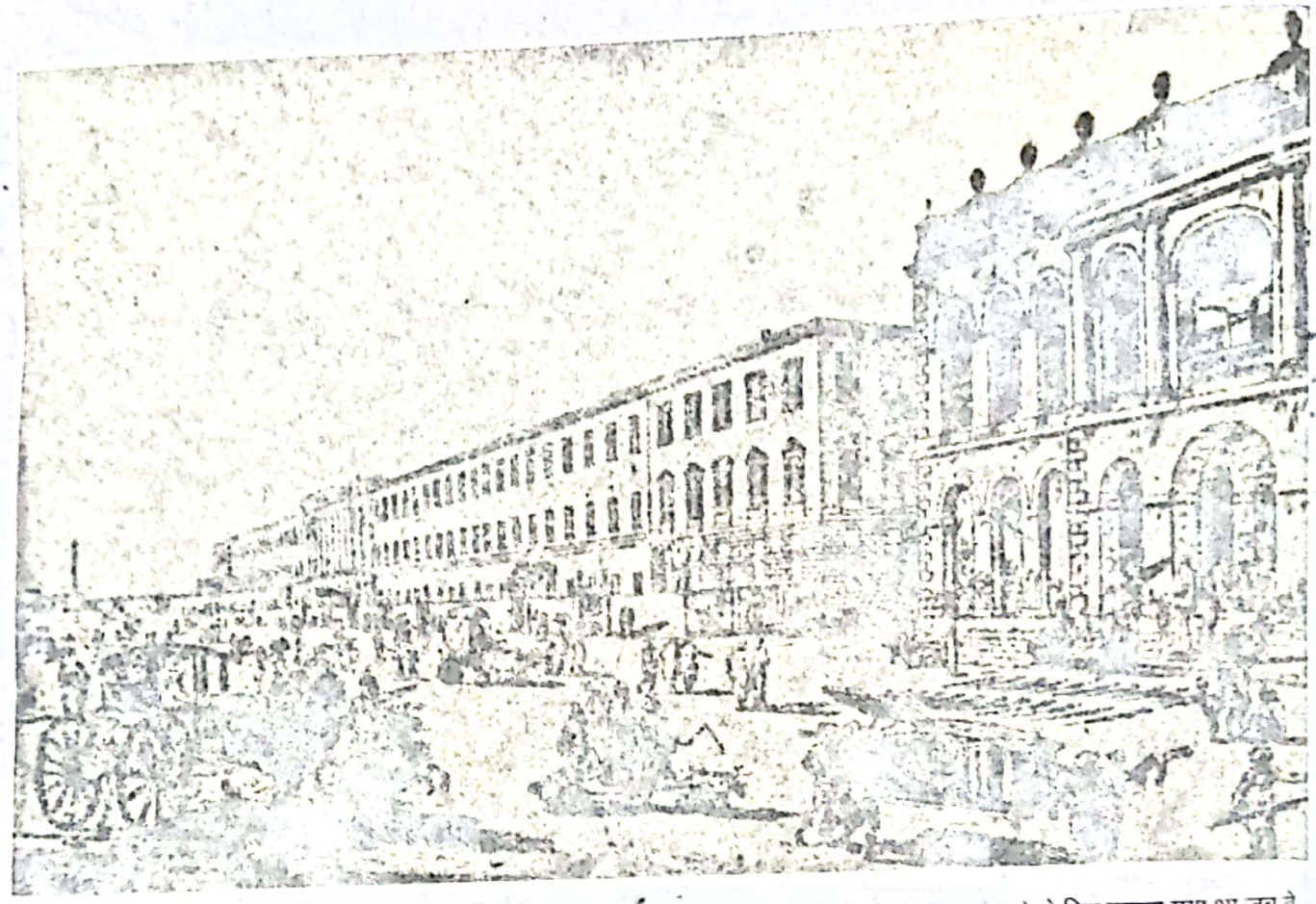

कलकत्ता की राइटर्स बिल्डिंग। मूलरूप से इसे ईस्टइंडिया कंपनी के नौकरों (जिन्हें लेखक के रूप में जाना जाता था) के लिए बनाया गया था जब वे भारत में आए थे ताकि उन्हें इसमें ठहराया जा सके। बाद में इसका उपयोग प्रशासनिक कार्यालय के रूप में किया जाने लगा।

चाहिए था। पर ऐसा हुआ नहीं। कंपनी ने अपनी राजनीतिक शक्ति का उपयोग करके बंगाल के बुनकरों पर अपनी शर्तें लादीं और उन्हें अपना माल कम तथा निर्धारित दामों पर बल्कि घाटे पर भी बेचने के लिए बाध्य किया। इसके अलावा अब उनकी मेहनत भी आजाद नहीं रही। उनमें से अनकों कंपनी के लिए कम मजदूरी पर काम करने को मजबूर किए गए तथा भारतीय कारखानेदारों के लिए उनके काम करने पर रोक लगा दी गई। कंपनी ने अपने भारतीय या विदेशी प्रतिद्वंद्वी व्यापारियों को बाहर कर दिया तथा बंगाल के दस्तकारों को अधिक मजदूरी या दाम देने से उन्हें रोके रखा। कंपनी के नौकरों ने कच्चे कपास की बिक्री पर एकाधिकार कर लिया तथा उसके लिए बंगाल के बुनकरों से मनमाने दाम वसूलने लगे। इस तरह बुनकर खरीदने वाले तथा बेचने वाले, दोनों ही रूप में घाटे में रहे। साथ ही इंगलैंड में भारतीय वस्त्रों पर भारी आयात-शुल्क भी देने पड़ते थे। ब्रिटिश सरकार अपने उभरते हुए मशीनी उद्योग को सुरक्षा देने पर अडिग थी क्योंकि उसके माल अभी भी सस्ते और बेहतर भारतीय मालों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। फिर भी भारतीय मालों की कुछ साख बनी रही। भारतीय हस्त शिल्प को असल धक्का 1813 के बाद लगा जब उसके हाथों से विदेशी बाजार ही नहीं छिन गए बल्कि इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि उससे स्वयं भारतीय बाजार भी छिन गया।

ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति ने उसकी अर्थव्यवस्था तथा भारत के साथ उसके आर्थिक संबंधों को पूरी तरह बदलकर रख दिया। 18वीं सदी के उत्तरार्ध तथा 19वीं सदी के पहले कुछ दशकों में ब्रिटेन में महत्वपूर्ण सामाजिक-आर्थिक रूपांतरण हुए। आधुनिक मशीनों, कारखाना प्रणाली तथा पूंजीवाद के आधार पर ब्रिटिश उद्योगों का तेजी से विकास और प्रसार हुआ। इस विकास को अनेक कारणों से बल मिला।

Scanned with CamScanner

इसके पहले की सदियों में ब्रिटेन का विदेशी व्यापार तेजी से फैलता आया था । युद्धों और उपनिवेशवाद के द्वारा ब्रिटेन ने अनेक विदेशी बाजारों पर एकाधिकार कायम कर लिया था । इन निर्यात-बाजारों के कारण ब्रिटेन के निर्यातक-उद्योगों का उत्पादन तेजी से बढ़ा, जिसमें उत्पादन तथा संगठन की आधुनिकतम तकनीकों का उपयोग किया गया । अफ्रीका, वेस्ट इंडीज, लातीनी अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, चीन और सबसे बढ़कर भारत ने निर्यात के लिए असीम अवसर प्रदान किए । यह बात सूती वस्त्र उद्योग के लिए खास तौर पर सही थी जो ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति का प्रमुख वाहक बन गया । ब्रिटेन ने अब तक व्यापार की एक ओपनिवेशिक प्रणाली स्थापित कर ली थी जिससे औद्योगिक क्रांति को बल मिला और औद्योगिक क्रांति ने बदले में इस प्रणाली को और भी मजबूत बनाया । उपनिवेश तथा अल्पविकसित देश ब्रिटेन को अपने खेतों और खदानों के कच्चे माल का निर्यात करते और ब्रिटेन उन्हें अपने कारखानों का तैयार माल बेचता ।

दूसरे, नई मशीनों और कारखानों में लगाने के लिए देश में पर्याप्त पूंजी जमा हो चुकी थी । इसके अलावा यह पूंजी सामंत वर्ग के हाथों में न थी जो इसे विलासी जीवन और भोग में खर्च कर डालता, बल्कि यह व्यापारियों और उद्योगपतियों के हाथों में थी जो इसे उद्योग और व्यापार में लगाने के लिए उत्सुक थे । इस मामले में अफ्रीका, एशिया, वेस्ट इंडीज तथा लातीनी अमरीका से तथा ईस्ट इंडिया कंपनी और उसके नौकरों द्वारा भारत से प्लासी-युद्ध के बाद ले जाई गई पूंजी ने औद्योगिक प्रसार में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई ।

तीसरे, जनसंख्या की तीव्र वृद्धि ने फलते-फूलते उद्योगों की अधिक और सस्ते श्रम की आवश्यकताएं पूरी कीं । 1740 के बाद ब्रिटेन की जनसंख्या तेजी से बढ़ी; 1780 के बाद के पचास वर्षों में यह दोगुनी हो गई ।

चौथे, ब्रिटेन में एक ऐसी सरकार थी जिस पर व्यापारियों तथा उद्योगपतियों का प्रभाव था और इसलिए उसने बाजारों तथा उपनिवेशों के लिए दूसरे देशों से जमकर युद्ध किया ।

पांचवें, अधिक उत्पादन की मांगें प्रौद्योगिकी के विकास द्वारा पूरी की गईं । ब्रिटेन के उभरते उद्योगों ने हरग्रीव्स, वाट, क्रांपटन, कार्टराइट तथा दूसरे लोगों के आविष्कारों का भरपूर उपयोग किया । इनमें से अनकों आविष्कार सदियों पहले हुए थे, मगर अब उनका उपयोग होने लगा । इन आविष्कारों तथा भाप की शक्ति का पूरा फायदा उठाने के लिए अब उत्पादन को अधिकाधिक कारखानों तक सीमित किया जाने लगा । यह भी ध्यान रहे कि इन आविष्कारों ने औद्योगिक क्रांति को जन्म नहीं दिया था । बल्कि फैलते बाजारों के लिए उत्पादन तेजी से बढ़ाने की उद्योगपतियों की इच्छा तथा इसके लिए आवश्यक पूंजी लगा सकने की उनकी क्षमता के ही कारण तब तक विद्यमान प्रौद्योगिकी का उपयोग किया जा सका और नए आविष्कारों की आवश्यकता का अनुभव किया गया । वास्तव में उद्योग के लिए संगठन ने तकनीकी परिवर्तनों को मानव विकास की एक स्थायी विशेषता बना दिया । इस दृष्टि से देखें तो औद्योगिक क्रांति कभी समाप्त ही नहीं हुई क्योंकि 18वीं सदी के मध्य से ही आधुनिक उद्योगों और प्रौद्योगिकी का लगातार एक चरण से दूसरे चरण तक विकास होता रहा है ।

औद्योगिक क्रांति के कारण ब्रिटिश समाज में बुनियादी परिवर्तन आए । इसके कारण तीव्र आर्थिक विकास हुआ जो आज ब्रिटेन तथा यूरोप, सोवियत संघ, संयुक्त राज्य अमरीका, कनाडा, आस्ट्रेलिया और जापान के उच्च जीवन स्तर का आधार है । वास्तव में 19वीं सदी के आरंभ से पहले तक आज के आर्थिक दृष्टि से उन्नत और पिछड़े देशों के जीवन स्तरों में बहुत स्पष्ट अंतर नहीं था । पिछड़े देशों में औद्योगिक क्रांति का न होना ही वह चीज है जिसके कारण आज की दुनिया में आय के अधिक अंतर देखे जाते हैं ।

औद्योगिक क्रांति के कारण ब्रिटेन का अधिकाधिक नगरीकरण होता गया । अधिकाधिक लोग कारखानों वाले नगरों में बसने लगे । 1750 में ब्रिटेन में 50,000 से अधिक जनसंख्या वाले केवल दो नगर थे जबकि 1851 में इनकी संख्या 29 हो चुकी थी ।

समाज में एकदम नए दो वर्गों का उदय हुआ । एक वर्ग औद्योगिक पूंजीपतियों का था जो कारखानों के मालिक थे, और दूसरा वर्ग मजदूरों का था जो दैनिक मजदूरी पर अपनी श्रम शक्ति बेचते थे । पहले वर्ग का तेजी से विकास हुआ और वह अभूतपूर्व समृद्धि का उपभोग करने लगा, जबकि श्रम करने वाले गरीब मजदूरों को आरंभ में आंसू के घूंट पीने पड़े । वे अपने ग्रामीण वातावरण से उजाड़ दिए

Scanned with CamScanner

गए और उनकी परंपरागत जीवन-पद्धति छिन्न-भिन्न और नष्ट कर दी गई । अब उन्हें नगरों में रहना पड़ता था जो धूल-धकक्ड और धुएं से भरे थे । उनके घरों में स्थान बहुत ही कम होता था और वे गंदगी से भरे होते थे । उनमें से अधिकांश को अंधेरे, धूप से वंचित गंदी बस्तियों में रहना पड़ता था । इन सबका मार्मिक वर्णन चार्ल्स डिकेंस ने अपने उपन्यासों में किया है । कारखानों और खदानों में काम के घंटे असहनीय सीमा तक लंबे होते थे; कभी-कभी प्रतिदिन 14 से 16 घंटों तक काम करना पड़ता था । मजदूरी बहुत ही कम थीं। स्त्रियों और बच्चों को भी इतनी ही कड़ी मेहनत करनी पड़ती थी । कभी-कभी चार-पांच वर्ष के बच्चों को भी कारखानों और खदानों में लगा दिया जाता था । एक मजदूर का जीवन आम तौर पर गरीबी, कड़ी मेहनत, बीमारियों और कुपोषण का जीवन होता था । केवल 19वीं सदी के उत्तरार्ध में ही उनकी आमदनी में थोड़ी-बहुत वृद्धि हो सकी ।

उद्योगपतियों के एक शक्तिशाली वर्ग के उदय ने भी भारतीय प्रशासन और इसकी नीतियों पर गहरा प्रभाव डाला । साम्राज्य में इस वर्ग की दिलचस्पी ईस्ट इंडिया कंपनी की दिलचस्पी से बहुत भिन्न थी .भारतीय दस्तकारों के निर्यात पर एकाधिकार होने से या भारतीय धन के सीधे-सीधे दोहन से इस वर्ग को कोई लाभ नहीं मिला । जब इस वर्ग की संख्या शक्तिशाली और इसके राजनीतिक प्रभाव में वृद्धि हुई तो वह कंपनी के व्यापारिक एकाधिकार पर चोट करने लगा । चूंकि इस वर्ग का मुनाफ़ा व्यापार नहीं बल्कि कारखानों के उत्पादन की देन था, इसलिए वह तैयार भारतीय माल के आयात को नहीं बल्कि अपने माल का भारत को निर्यात तथा भारत से कपास जैसे कच्चे मालों के आयात को प्रोत्साहन देना चाहता था । 1769 में ब्रिटिश उद्योगपतियों ने एक कानून बनवाकर कंपनी को इस बात के लिए बाध्य कर दिया कि वह प्रति वर्ष 3,80,000 पौंड से अधिक मूल्य के ब्रिटिश कारखानों के माल का निर्यात करे हालांकि इस सौदे में कंपनी को बहुत घाटा हुआ । 1793 में उन्होंने कंपनी को मजबूर: किया कि वह अपने जहाजों में उन्हें प्रति वर्ष 3,000 टन माल ढोने की छूट दे । पूर्वी देशों, खासकर भारत को 1794 में 156 पौंड के ब्रिटिश सूती कपडों का निर्यात हुआ, मगर 1813 तक यह निर्यात बढ़कर 1,10,000 पौंड का, अर्थात लगभग 700 गुना हो गया । लेकिन यह बढ़ोतरी भी लंकाशायर के उद्योगपतियों की आशा से कम सिद्ध हुई जो अब भारत में अपना निर्यात बढ़ाने के नए-नए तरीके ढूंढ़ने लगे । जैसा कि आर. सी. दत्त ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक दि इकानामिक हिस्ट्री आफ़ इंडिया में आगे चलकर लिखा, 1812• की पार्लियामेंटरी सेलेक्ट कमेटी के प्रयास का उद्देश्य "यह पता लगाना था कि उनकी (भारतीय कारखनेदारों) की जगह ब्रिटिश कारखानेदारों को कैसे दी जाए, और भारतीय उद्योगों की कीमत पर ब्रिटिश उद्योगों को कैसे प्रोत्साहित किया जाए ।"

ईस्ट इंडिया कंपनी को, पूर्वीय व्यापार पर कंपनी के एकाधिकार को, और भारत के राजस्व और निर्यात-व्यापार पर नियंत्रण के जरिए कंपनी की शोषण पद्धति को ब्रिटिश कारखानेदार अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति में प्रमुख बाधा समझते थे । 1793 तथा 1813 के बीच उन्होंने कंपनी तथा उसके व्यापारिक विशेषाधिकारों के खिलाफ़ एक शक्तिशाली अभियान चलाया और अंततः 1813 में भारतीय व्यापार पर उसका एकाधिकार समाप्त कराने में वे सफल रहे ।

इस घटना के बाद भारत के साथ ब्रिटेन के आर्थिक संबंधों का एक नया युग आरंभ हुआ । खेतिहर भारत को अब औद्योगिक इंग्लैंड का आर्थिक उपनिवेश बनना पड़ा ।

भारत सरकार ने अब मुक्त व्यापार अर्थात ब्रिटिश माल के अबाध भारत-प्रवेश की नीति अपनाई । भारतीय दस्तकारियों का अब ब्रिटेन के मशीनों से बने माल के साथ भयानक और असमान प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा तथा वे नष्ट होने लगीं । भारत में ब्रिटिश माल बिना किसी शुल्क के या मामूली आयात-शुल्क के साथ आने लगा । नए-नए इलाके जीतकर तथा अवध जैसे संरक्षित राज्यों पर सीधा कब्जा करके ब्रिटिश सामान के खरीदारों की संख्या बढ़ाने का प्रयास भी भारत सरकार ने किया । अनेक ब्रिटिश अधिकारियों, राजनीतिक नेताओं तथा व्यापारियों ने जमीन की लगान घटाने की पैरवी भी की ताकि किसान बेहतर स्थिति में हों और विदेशी कारखानों में बना माल खरीद सकें । उन्होंने भारत के पश्चिमीकरण का समर्थन भी किया ताकि अधिकाधिक भारतीयों में पश्चिमी मालों के प्रति रुचि का विकास हो सके ।

हाथ से तैयार भारतीय माल उन ब्रिटिश कारखानों के बहुत ही सस्ते मालों का मुकाबला न

Scanned with CamScanner

कर सके जो नए आविष्कारों तथा और बड़े पैमाने पर भाप की शक्ति का उपयोग करके अपनी उत्पादन क्षमता को तेजी से बढ़ा रहे थे। कोई भी सरकार अगर केवल भारतीयों के हितों की शुभचिंतक होती तो वह ऊंचे आयात-शुल्क लगाकर भारतीय उद्योगों का संरक्षण देती और इस प्रकार जो समय मिलता उसमें पश्चिम से नई नकनीकों का आयात कर चुकी होती। 18वीं सदी में ब्रिटेन ने अपने उद्योगों के लिए यही किया था; उस समय फ्रांस, जर्मनी और संयुक्त राज्य अमरीका यही कर रहे थे; अनेक दशकों बाद सोवियत संघ और जापान ने यही किया; और आज स्वतंत्र भारत यही कर रहा है। पर विदेशी शासकों ने केवल यही नहीं किया कि भारतीय उद्योगों को संरक्षण नहीं दिया, बल्कि उन्होंने विदेशी मालों को भारत में प्रवेश की खुली छूट दे दी। विदेशों से आयात तेजी से बढ़ चला। केवल ब्रिटिश सूती कपड़ों का निर्यात 1813 में 11,00,000 पौंड था जो 1856 तक बढ़कर 63,00,000 पौंड हो गया।

मगर भारत पर लादी गई मुक्त व्यापार की यह नीति एकतरफा थी। भारत के दरवाजे तो विदेशी मालों के लिए खुले छोड़ दिए गए, मगर जो भारतीय माल ब्रिटिश मालों से प्रतियोगिता कर सकते थे, उन पर ब्रिटेन में प्रवेश के लिए भारी आयात-शुल्क लगा दिए गए। जब अंग्रेजों का उद्योग भारतीय दस्तकारियों की तुलना में प्रौद्योगिक श्रेष्ठता प्राप्त कर चुका था, तब भी अंग्रेज वाजिब तथा समान शर्तों पर भारतीय माल नहीं खरीदते थे। ब्रिटेन में अनेकों प्रकार के भारतीय मालों पर ऊंचा आयात-शुल्क तब तक जारी रहा जब तक उनका निर्यात लगभग बंद ही नहीं हो गया। उदाहरण के लिए 1824 में भारत के मोटे सूती कपड़ों पर आयात-शुल्क की दर 67.5 प्रतिशत तथा भारतीय मलमल पर 37.5 प्रतिशत थी। ब्रिटेन में प्रवेश के लिए भारतीय चीनी पर जो शुल्क लगता था वह उसकी लागत के तीन गुने से भी अधिक होता था। कुछ मामलों में इंग्लैंड में यह शुल्क 400 प्रतिशत से भी अधिक हो गया। इस प्रकार के प्रतिबंधमूलक शुल्क तथा मशीन उद्योग के विकास के परिणामस्वरूप दूसरे देशों के लिए भारत का निर्यात तेजी से गिर गया। ब्रिटिश व्यापारिक नीति की बेईमानी का वर्णन ब्रिटिश इतिहासकार एच. एस. विल्सन ने इन शब्दों में किया है:

यह बात साक्ष्य में कही गई कि उस समय तक भारत के सूती और रेशमी माल इंग्लैंड में तैयार मालों की तुलना में 50 से 60 प्रतिशत कम कीमत पर भी बेचकर मुनाफा कमाया जा सकता था। इसलिए परिणामस्वरूप (भारतीय मालों) पर उनकी कीमतों की 70 से 80 प्रतिशत तक शुल्क लगाकर, इंग्लैंड के मालों को संरक्षण देना आवश्यक हो गया है। अगर ऐसा न होता और अगर ऐसे प्रतिबंधमूलक शुल्कों और आदेशों का उपयोग न किया जाता तो पैसेले तथा मौनचेस्टर के कारखाने अपने आरंभकाल में ही बंद हो चुके होते और भाप की शक्ति का उपयोग करके भी उनको शायद दोबारा आरंभ नहीं किया जा सकता था। उनका जन्म भारतीय कारखानेदारों का बलिदान देकर ही संभव हो सका। अगर भारत स्वतंत्र होता तो वह भी बदले की कार्रवाई करता, ब्रिटिश मालों पर प्रतिबंधमूलक शुल्क लगाता, और इस तरह अपने उत्पादक उद्योगों को नष्ट होने से बचा लेता। पर उसे आत्मरक्षा का यह कदम उठाने की अनुमति न थी, और वह विदेशियों की दया का मोहताज था। बिना कोई शुल्क चुकाए ब्रिटेन के माल उस पर लाद दिए गए, और विदेशी कारखानेदारों ने राजनीतिक अन्याय का सहारा लेकर अपने उन प्रतियोगियों को दबाए रखा और अंततः उनका गला घोंट दिया जिनके साथ बराबरी की शर्तों पर वे प्रतियोगिता नहीं कर सकते थे।

भारत को अब मजबूर किया गया कि अपने तैयार माल का निर्यात करने की जगह वह कच्चा कपास और कच्चा रेशम जैसे कच्चे मालों का निर्यात करे जिनकी कि ब्रिटिश उद्योगों को सख्त जरूरत थी, या फिर नील या चाय जैसे बागानों के उत्पादनों का या अनाजों का निर्यात करे जिनकी ब्रिटेन में कमी थी। 1856 में भारत ने 43,00,000 पौंड के कच्चे कपास का निर्यात किया मगर तैयार सूती माल का निर्यात केवल 8,10,000 पौंड का था। इस वर्ष भारत ने 29,00,000 पौंड के अनाजों, 17,30,000 पौंड के तील तथा 7,70,000 पौंड के कच्चे रेशम का निर्यात भी किया गया। अंग्रेजों ने चीन में भारतीय अफीम की बिक्री को भी प्रोत्साहन दिया और उस समय भी दिया जबकि चीनियों ने अफीम के जहरीले तथा हानिकारक गुणों के कारण अफीम

Scanned with CamScanner

1) जॉन सुलेवन :— हमारी प्रणाली बहुत कुछ स्पेन की तरह काम करती है जो गंगा के तटों से सभी अच्छी चीजें सोखकर टेम्स के तटों पर निचोड़ देती है।

प्रतिबंध लगा दिया था। पर इस व्यापार से ब्रिटिश व्यापारियों को भारी मुनाफा तथा कंपनी द्वारा नियंत्रित भारतीय प्रशासन को भारी राजस्व मिलते थे। दिलचस्प बात यह है कि ब्रिटेन में अफीम के आयात पर कड़ा प्रतिबंध था। 19वीं सदी के अंत तक भारत का निर्यात मुख्यतः कच्चे कपास, जूट और रेशम, तिलहन, गेहूं, खालों और चमड़ों, तथा नील और चाय तक सीमित था।

इस तरह 1813 के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी की व्यापारिक नीति का निर्धारण ब्रिटिश उद्योग की आवश्यकताओं के अनुसार होने लगा। इसका मुख्य उद्देश्य भारत को ब्रिटेन के कारखानों के माल का उपभोक्ता तथा कच्चे मालों का निर्यातक बनाना था।

संपत्ति का दोहन : भारत की संपत्ति और संसाधनों का एक हिस्सा अंग्रेज ब्रिटेन को भेज रहे थे और इसके बदले भारत को पर्याप्त आर्थिक या भौतिक लाभ नहीं मिल रहा था। यह आर्थिक दोहन ब्रिटिश शासन की खास विशेषता थी। इसके पहले बुरी से बुरी भारतीय सरकारों ने भी जनता से चूसी गई दौलत का उपयोग देश के अंदर ही किया था। चाहे उन्होंने इस धन को सिंचाई की नहरें या ट्रंक रोड बनाने पर खर्च किया, महल, मंदिर या मस्जिद बनाने में लगाया, युद्धों और विजयों के लिए उसका उपयोग किया, या व्यक्तिगत भोग-विलास में उसे उड़ाया, मगर वह धन अंततः भारतीय उद्योग और व्यापार को ही प्रोत्साहित करता था और भारतीयों को रोजगार देता था। इसका कारण यह था कि विदेशी विजेता, जैसे कि मुगल, भी जल्द ही भारत में बस गए और उन्होंने इसी को अपना घर बना लिया। पर अंग्रेज हमेशा विदेशी ही बने रहे। भारत में काम कर रहे या व्यापार कर रहे लगभग सभी अंग्रेज ब्रिटेन वापस जाने की योजना बनाते रहते थे। भारत की सरकार पर नियंत्रण विदेशी व्यापारियों की एक कंपनी का और ब्रिटेन की सरकार का था। परिणामस्वरूप भारतीय जनता से प्राप्त करें और आय का बहुत बड़ा हिस्सा अंग्रेज भारत में नहीं बल्कि अपने देश ब्रिटेन में खर्च करते थे।

बंगाल से संपत्ति का यह दोहन 1757 में आरंभ हुआ और इसके बाद कंपनी के नौकर भारतीय शासकों, जमींदारों, व्यापारियों और साधारण जनता से झटककर जमा की गई बेपनाह दौलत अपने देश ले जाने लगे। 1758 और 1765 के बीच उन्होंने लगभग 60 लाख पौंड की दौलत ब्रिटेन भेजी। 1765 में बंगाल के नवाब को जमीन की कुल जितनी मालगुजारी प्राप्त हुई, उसकी यह रकम चार गुनी से भी अधिक थी। इस भयानक दोहन में कंपनी के व्यापारिक मुनाफे शामिल नहीं थे और यह कमाई भी प्रायः गैरकानूनी कमाई से कम नहीं होती थी। 1765 में कंपनी ने बंगाल की दीवानी प्राप्त कर ली और इस तरह राजस्व पर उसका नियंत्रण स्थापित हो गया। जल्द ही कंपनी ने अपने नौकरों से भी बड़े पैमाने पर प्रत्यक्ष दोहन की व्यवस्था खड़ी कर ली। वह बंगाल के राजस्व से ही भारतीय माल खरीदकर उनका निर्यात करने लगी। इन खरीदों को 'पूंजीनिवेश' कहा जाता था। इस तरह इन 'पूंजीनिवेशों' के रूप में बंगाल का धन इंग्लैंड भेजा जाता था। मिसाल के लिए 1765 से 1770 के बीच कंपनी ने मालों के रूप में लगभग 40 लाख पौंड का धन बाहर भेजा जो बंगाल मात्र के राजस्व का लगभग 33 प्रतिशत था। 18वीं सदी के अंत तक भारत की राष्ट्रीय आय का लगभग 2 प्रतिशत बाहर भेजा जा रहा था। पर वास्तविक दोहन और भी अधिक था, क्योंकि अंग्रेज अधिकारियों के वेतनों और दूसरी आयों का तथा अंग्रेज व्यापारियों के व्यापारिक लाभों का एक बड़ा हिस्सा भी इंग्लैंड ही जाता।

इस दोहन के नतीजे में भारत का निर्यात उसके आयात से बढ़ गया मगर इसका कोई लाभ भारत को न मिला। हालांकि वार्षिक दोहन की ठीक-ठीक रकम का हिसाब अभी तक नहीं लगाया जा सका है, और इतिहासकारों में इसे लेकर मतभेद भी हैं, पर कम से कम 1757 और 1857 के बीच इस दोहन की वास्तविकता को ब्रिटिश अधिकारी बड़े पैमाने पर स्वीकार करते थे। उदाहरण के लिए हाउस आफ लार्ड्स की सेलेक्ट कमेटी के अध्यक्ष और बाद में भारत के गवर्नर-जनरल लार्ड एलनबरो ने 1840 में स्वीकारा कि भारत से "आशा की जाती थी कि वह इस देश (ब्रिटेन) को प्रति वर्ष 20 से 30 लाख पौंड-स्टर्लिंग के बीच कोई रकम भेजे और बदले में मामूली मूल्य के सैनिक भंडारों के अलावा किसी बात की आशा न करे।" मद्रास के बोर्ड आफ रेवेन्यू के अध्यक्ष जॉन सुलिवन ने टिप्पणी की कि "हमारी प्रणाली बहुत कुछ स्पेन की तरह काम करती है जो गंगा के तटों से सभी अच्छी चीजें सोखकर टेम्स के तटों पर निचोड़ देती है।"

Scanned with CamScanner

(1) पहला रेलइंजन इंग्लैंड में 1814 में पटरियों पर चलाया गया

1858 के बाद यह दोहन बढ़ता ही गया, हालांकि अब ब्रिटिश प्रशासक और साम्राज्यवादी लेखक इसकी सच्चाई से इनकार करने लगे। 19वीं सदी के अंत में यह दोहन भारत की राष्ट्रीय बचत का लगभग एक-तिहाई था। खासकर 18वीं सदी में और 19वीं सदी के आरंभ में, अर्थात ब्रिटेन के औद्योगीकरण के आरंभिक काल में भारत से बाहर ले जाए गए इस धन की ब्रिटेन में पूंजीवादी विकास के लिए पूंजी जुटाने में महत्वपूर्ण भूमिका रही। ऐसा अनुमान लगाया गया है कि उस काल में दोहन की यह रसम ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय का लगभग दो प्रतिशत होती थी। अगर हम इस बात को ध्यान में रखें कि उस समय अपनी राष्ट्रीय आय का लगभग सात प्रतिशत ब्रिटेन उद्योग और कृषि में लगाता था, तो इस आंकड़े का महत्व समझ में आ सकता है।

यातायात और संचार के साधनों का विकास : 19वीं सदी के मध्य तक भारत में यातायात के साधन बहुत पिछड़े हुए थे। यातायात बैलगाड़ी और टांगों तक सीमित था। ब्रिटिश शासकों ने महसूस किया कि अगर ब्रिटिश मालों को भारत में बड़े पैमाने पर खपाना है और ब्रिटिश उद्योगों के लिए यहां से कच्चे माल प्राप्त करना है तो यहां यातायात की एक सस्ती और आसान प्रणाली का विकास करना आवश्यक है। तब उन्होंने नदियों में स्टीमर चलाए और सड़कों को सुधारना आरंभ किया। कलकत्ता से दिल्ली तक ग्रैंड ट्रंक रोड पर 1839 में काम आरंभ हुआ और 1850 के दशक में पूरा हुआ। सड़कों द्वारा देश के प्रमुख नगरों, बंदरगाहों और मंडियों को जोड़ने के प्रयास भी किए गए। पर यातायात में वास्तविक सुधार रेलों के आरंभ के बाद ही हो पाया।

जार्ज स्टीवेंसन का बनाया पहला रेल इंजन इंग्लैंड में 1814 में पटरियों पर चलाया गया। वहां 1830 तथा 1840 के दशकों में रेलों का तेजी से विकास हुआ। जल्द ही भारत में भी तेजी से रेल लाइनें बिछाने के लिए दबाव पड़ने लगा। ब्रिटिश उद्योगपतियों को आशा थी कि इस प्रकार देश के भीतर के दूरदराज के इलाकों को विशाल तथा अभी तक पकड़ से बाहर रहा बाजार भी उन्हें मिल जाएगा तथा उनकी भूखी मशीनों तथा उनके चलाने वालों के लिए भारतीय कच्चे माल तथा खाद्य-सामग्री का निर्यात आसान हो जाएगा। ब्रिटिश बैंकरों और निवेशकर्ताओं को भी लगा कि उनकी अतिरिक्त पूंजी सुरक्षा के साथ भारत में रेलों के विकास में लगाई जा सकती थी। ब्रिटेन के इस्पात-उत्पादकों को लगा कि उनके उत्पादनों, जैसे पटरियों, इंजिनों, डब्बों तथा दूसरी मशीनों आदि की बिक्री इससे बढ़ सकती है। जल्द ही भारत सरकार ने भी इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया। उसे रेलों के रूप में एक और अच्छी बात भी नजर आई कि इनसे सैनिकों की भर्ती और आवाजाही और तेजी से हो सकेगी और इस प्रकार और भी प्रभावी और कुशल ढंग से देश का प्रशासन चलाना तथा आंतरिक विद्रोहों और बाहरी हमलों से अपने शासन की सुरक्षा कर सकना संभव हो सकेगा।

भारत में रेल-लाइन बिछाने का पहला सुझाव 1831 में मद्रास में आया था। पर इस रेल के डब्बों को घोड़े खींचने वाले थे। भारत में भाप से चलने वाली रेलों का पहला प्रस्ताव 1834 में इंग्लैंड में रखा गया। इंग्लैंड के रेलवे प्रोमोटरों, वित्तपतियों, भारत से व्यापार कर रहे व्यापारिक घरानों तथा कपड़ा उत्पादकों से इस प्रस्ताव को तगड़ा राजनीतिक समर्थन मिला। तय हुआ कि प्राइवेट कंपनियां भारत में रेल लाइनें बिछाएं और रेलें चलाएं। भारत सरकार ने जमानत दी कि इन कंपनियों को उनकी पूंजी पर कम-से-कम पांच प्रतिशत लाभ मिलेगा। बंबई और ठाणे के बीच पहली रेल-लाइन यातायात के लिए 1853 में खोल दी गई।

1849 में भारत का गवर्नर-जनरल बनने वाला लार्ड डलहौजी यहां तेजी से रेलें बिछाने के विचार का पक्का समर्थक था। 1853 में लिखे एक प्रसिद्ध नोट में उसने रेलों के विकास का एक व्यापक कार्यक्रम सामने रखा। उसने चार प्रमुख ट्रंक लाइनों के एक जाल का प्रस्ताव रखा जो देश के अंदरूनी भागों को बड़े बंदरगाहों से तथा देश के विभिन्न भागों को आपस में जोड़ सकें।

1869 के अंत तक जमानत-प्राप्त कंपनियां 4,000 मील से अधिक लाइन बिछा चुकी थीं। पर यह प्रणाली काफी खर्चीली और धीमी साबित हुई। इसलिए 1869 में भारत सरकार ने सरकारी उद्यम के रूप में नई रेल लाइनें बिछाने का फैसला किया। लेकिन रेलों के प्रसार की गति अभी भी भारत के अधिकारियों तथा ब्रिटेन के व्यापारियों को संतुष्ट न कर सकी। 1880 के बाद प्राइवेट कंपनियों और सरकार, दोनों ने रेल-लाइनें बिछाईं। 1905 तक लगभग 28,000 मील लंबी रेल लाइनें बिछाई जा चुकी थीं। भारतीय रेलवे के विकास के तीन

Scanned with CamScanner

(1) डाक टिकट ——— डलहौजी
(2) पहली रेल लाइन – 1853 ——— बम्बई — थाने
(3) पहली तार लाइन – 1853 ——— कलकत्ता — आगरा

महत्वपूर्ण पक्षों को ध्यान में रखना आवश्यक है । पहला, इन रेल लाइनों में 350 करोड़ रुपए से अधिक की पूंजी लगी थी और यह पूंजी लगभग पूरी की पूरी ब्रिटिश पूंजीनिवेशकों की थी; इसमें भारतीय पूंजी का भाग नगण्य था । दूसरा, आरंभ के 50 वर्षों में इनमें वित्तीय घाटा ही होता रहा तथा वे लगने वाली पूंजी पर ब्याज तक नहीं दे सकती थीं । प्राइवेट कंपनियों ने जो रेल लाइनें बिछाई थीं उनका घाटा तो भारत सरकार ने पूरा किया क्योंकि वह लगाई गई पूंजी पर एक निश्चित लाभ देने की ज़मानत दे चुकी थी । 1850 के दशक में ब्रिटेन में ब्याज की दर लगभग तीन प्रतिशत थी; उसे देखते हुए लाभ की यह पांच प्रतिशत की दर आकर्षक थी । तीसरा, रेलों की योजना तैयार करने, उनका निर्माण करने तथा उनके प्रबंध में भारत और उसकी जनता के आर्थिक और राजनीतिक विकास को अधिक महत्व नहीं दिया गया था । इसके विपरीत, खास ध्यान भारत में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के आर्थिक, राजनीतिक तथा सैनिक हितों की पूर्ति का रखा गया था । ये रेल लाइनें मुख्यतः भारत के अंदरूनी भागों में स्थित कच्चे माल पैदा करने वाले क्षेत्रों को निर्यात करने वाले बंदरगाहों से जोड़ने के लिए बिछाई गई थीं । भारतीय उद्योग बाजारों तथा कच्चे मालों की आपूर्ति करने वाले क्षेत्रों की आवश्यकताओं को अनदेखा किया गया था । इसके अलावा रेल-भाड़े इस प्रकार तय किए गए थे कि आयात-निर्यात को बढ़ावा मिले तथा वस्तुओं के अंदरूनी आवागमन को हतोत्साहित किया जा सके । ब्रिटेन के साम्राज्यवादी हितों की पूर्ति के लिए बर्मा तथा पश्चिमोत्तर भारत में भारी लागत से अनेक रेल लाइनें बिछाई गईं ।

अंग्रेजों ने एक कुशल और आधुनिक डाक-प्रणाली भी कायम की तथा तार की व्यवस्था की शुरुआत की । 1853 में कलकत्ता और आगरा के बीच पहली तार लाइन का आरंभ किया गया । लार्ड डलहौजी ने डाक-टिकटों को भी आरंभ किया । इससे पहले जब भी कोई पत्र डाक के हवाले किया जाता तो नगद पैसा देना पड़ता था । उसने डाक की दरें भी घटा दीं तथा पूरे देश में कहीं भी पत्र भेजने के लिए एकसमान दर रखी जो एक अधन्नी (पुराने दो पैसे) थी । उसके सुधारों से पहले पत्र पर डाक-टिकट कितना लगेगा, यह इस पर निर्भर था कि वह कितनी दूर जाएगा । कभी-कभी तो एक पत्र पर इतना डाक-खर्च आता जो एक कुशल भारतीय मजदूर की चार दिन की मजदूरी के बराबर होता था ।

मालगुजारी की नीति : आयात के लिए भारतीय दस्तकारों के तथा दूसरे माल खरीदने, पूरे भारत की विजय का खर्च उठाने और ब्रिटिश शासन को मजबूत करने, आज के हिसाब से बहुत अधिक वेतन देकर ऊंचे प्रशासकीय तथा सैनिक पदों पर हजारों अंग्रेजों को नियुक्त करने, तथा भारतीय ग्रामों और दूर-दराज के क्षेत्रों में उननिवेशवाद की पूरी-पूरी घुसपैठ के लिए आवश्यक आर्थिक और प्रशासकीय खर्च उठाने के लिए कंपनी को भारतीय राजस्व की आवश्यकता थी । इसका मतलब था भारतीय किसानों के लिए करों के बोझ में भारी बढोत्तरी । वास्तव में 1813 तक प्रशासन और न्याय प्रणाली में जितने भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए उनका लक्ष्य मालगुजारी का संग्रह बढ़ाना ही था । कंपनी के व्यापार और मुनाफों के लिए, प्रशासन के खर्च के लिए तथा भारत में अंग्रेजों के प्रसार हेतु युद्धों के खर्च के लिए धन जुटाने का भार मुख्यतः भारतीय किसान, अर्थात रैयत को ही उठाना पड़ा । असल बात यह है कि अंग्रेज किसानों पर करों का भारी बोझ डाले बिना भारत जैसे विशाल देश को जीत ही नहीं सकते थे ।

एक लंबे समय से भारत के शासक खेतिहर पैदावार का एक भाग जमीन की मालगुजारी के रूप में लेते आए थे । यह मालगुजारी या तो कर्मचारियों की सहायता से सीधे-सीधे ली जाती थी या अप्रत्यक्ष रूप से ऐसे बिचौलियों, जैसे जमींदारों, मालगुजारों, आदि के माध्यम से ली जाती थी जो काश्तकार से मालगुजारी वसूल करते और उसका एक भाग अपने कमीशन के रूप में रख लेते थे । ये बिचौलिए मुख्यतः मालगुजारी वसूल करने वाले ही होते थे, हालांकि कभी-कभी जिस क्षेत्र में वे मालगुजारी वसूल करते वहां उनकी कुछ जमीन भी होती थी ।

इस्तमरारी बंदोबस्त : जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, कंपनी ने 1765 में बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त कर ली थी, अर्थात उसे वहां मालगुजारी जमा करने का अधिकार मिल गया था । आरंभ में उसने मालगुजारी की वसूली की पुरानी प्रणाली को जारी रखने का ही प्रयास किया हालांकि जमा की जाने वाली रकम उसने बढ़ा दी थी । वह रकम जो 1722 में 1,42,90,000 रुपए और 1764 में

Scanned with CamScanner

1,81,80,000 रुपए थी, 1771 में बढ़कर 2,34,00,000 रुपए हो चुकी थी । 1773 में कंपनी ने अप्रत्यक्ष रूप से इस वसूली की व्यवस्था का निश्चय किया । वारेन हेस्टिंग्ज ने मालगुजारी की वसूली के अधिकार को नीलाम पर लगाकर सबसे ऊँची बोली बोलने वाले को दे दिया । पर यह प्रयोग सफल नहीं हुआ । चूंकि जमींदार तथा दूसरे सटोरिए एक-दूसरे से बढ़कर बोली लगाते, इसलिए मालगुजारी की रकम तो बढ़ गई, पर वास्तविक वसूली हर वर्ष घटती-बढ़ती रहती और अधिकारियों की आशाओं तक शायद ही कभी पहुंची । इससे कंपनी की आय एक ऐसे समय में अस्थिरता का शिकार हुई जबकि उसे पैसे की सख्त जरूरत थी । इसके अलावा खेती में सुधार के लिए न तो रैयत कोई प्रबंध करते और न ही जमींदार, क्योंकि उन्हें पता ही नहीं होता था कि अगले वर्ष कितने की बोली लगेगी और अगले वर्ष वसूली का अधिकार किसे मिलेगा ।

यही वह समय था जब स्थायी रूप से मालगुजारी की एक निश्चित रकम निर्धारित करने का विचार सामने आया । लंबे विचार-विमर्श के बाद अंततः लार्ड कार्नवालिस ने 1793 में बंगाल और बिहार में इस्तमरारी बंदोबस्त की प्रथा का आरंभ किया । इसकी दो खास विशेषताएं थीं । पहली यह कि जमींदारों और मालगुजारों को भूस्वामी बना दिया गया । उन्हें अब रैयतों से मालगुजारी की वसूली के लिए केवल सरकार के एजेंट का ही काम नहीं करना था, बल्कि अब वे अपनी जमींदारी के इलाके की सारी जमीन के मालिक बन गए । उनके स्वामित्व के अधिकार को वंशगत और हस्तांतरणीय बना दिया गया । दूसरी तरफ काश्तकारों का दर्जा गिर गया और अब वे बंटाईदार होकर रह गए और वे जमीन पर अपने लंबे समय से चले आ रहे अधिकारों तथा पारंपरिक अधिकारों से वंचित कर दिए गए । चरागाहों और जंगलों की जमीनें, सिंचाई की नहरें, मछली-पालन के तालाबों तथा झोंपड़ी डालने की जमीनों के इस्तेमाल के अधिकार और लगान में वृद्धि से सुरक्षा—ये उनके कुछ ऐसे अधिकार थे जिनसे उनको वंचित कर दिया गया वास्तव में बंगाल तथा बिहार के बंटाईदारों को अब पूरी तरह जमींदारों की दया पर छोड़ दिया गया । ऐसा करने का कारण यह था कि जमींदार कंपनी की मालगुजारी संबंधी बेहिसाब मांगें समय पर पूरी कर सकें ।

दूसरे, जमींदारों को किसानों से जो भी लगान मिलता उसका 10/11 भाग उन्हें राज्य को दे देना पड़ता था और वे बचे 1/11 भाग अपने पास रख सकते थे । लेकिन मालगुजारी की जो रकम उन्हें देनी थी वह हमेशा के लिए निश्चित कर दी गई थी । अगर काश्त का क्षेत्र बढ़ने या खेती में सुधार आने के कारण, बंटाईदार को चूसने की जमींदार की क्षमता अधिक होने के कारण या किसी अन्य कारण से जमींदार की जागीर का लगान बढ़ जाए तो वह बढ़ी हुई रकम पूरी-पूरी अपने पास रख सकता था । इसमें राज्य कभी भी कोई हिस्सा नहीं मांगता था । साथ ही, अगर किसी कारण से फसल नष्ट हो जाए तो भी, जमींदार को मालगुजारी निश्चित तिथि को नियमपूर्वक चुकानी पड़ती थी, वरना उसकी जमीनें बेच दी जाती थीं ।

आरंभ में मालगुजारी की रकमों का निर्धारण मनमाने ढंग से और जमींदारों से परामर्श किए बिना किया गया । इसके पीछे अधिकारियों का उद्देश्य अधिकतम धन जमा करना था । फलस्वरूप मालगुजारी की बहुत अधिक दरें तय की गई । 1765–66 और 1793 के बीच मालगुजारी संबंधी मांग लगभग दोगुनी हो गई । इस्तमरारी बंदोबस्त की योजना तैयार करने वाले कार्नवालिस के बाद गवर्नर-जनरल बनने वाले जान शोर ने हिसाब लगाया कि अगर बंगाल के कुल उत्पादन को 100 मान लिया जाए तो इसमें 45 पर सरकार का दावा होता था, जमींदारों और उनके नीचे के बिचौलियों को 15 मिलता था तथा वास्तविक काश्तकार के पास केवल 40 ही रहता था । मालगुजारी की इस अत्यधिक तथा असंभव मांग का एक परिणाम यह हुआ कि 1794 और 1807 के बीच जमींदारों की लगभग आधी जमीनें बेच दी गईं ।

बाद में अधिकारी और गैर-अधिकारी सभी ने आम तौर पर यह माना कि 1793 के पहले बंगाल और बिहार के जमींदारों के पास जमीन के अधिकांश भाग पर मालिकाना हक नहीं थे । तब प्रश्न यह उठता है कि फिर अंग्रेजों ने उन्हें मालिकों के रूप में क्यों स्वीकार किया ? इसकी व्याख्या यह है कि यह अंशतः एक गलतफहमी का नतीजा था । उस समय इंगलैंड में खेती का केंद्रीय चरित्र भूस्वामी होता था और अंग्रेज अधिकारियों ने जमींदारों को इन्हीं भूस्वामियों का भारतीय प्रतिरूप मान लिया । फिर भी यह ध्यान रहे कि अंग्रेज अधिकारी एक महत्वपूर्ण सिलसिले में इन दोनों की स्थिति में स्पष्ट अंतर करते थे । ब्रिटेन का भूस्वामी

बंटाईदार ही नहीं बल्कि राज्य की निगाहों में भी जमीन का मालिक होता था । पर बंगाल में जमींदार बंटाईदार के लिए तो भूस्वामी होता था । पर स्वयं राज्य के अधीन होता था । वास्तव में वह स्वयं ही ईस्ट इंडिया कंपनी का लगभग बंटाईदार होकर रह गया था । ब्रिटिश भूस्वामी के विपरीत जो अपनी आय का एक बहुत छोटा भाग ही भूमि-कर के रूप में देता था, बंगाल का जमींदार कहने के लिए जिस जमीन का मालिक था, उससे प्राप्त आय का 10/11 भाग कर के रूप में दे देता था । वह अगर समय पर मालगुजारी न जमा कर सके तो बड़ी ही बेमुरव्वती के साथ अपनी जमीन से बाहर फेंक दिया जाता था और उसकी जागीर बेच दी जाती थी ।

दूसरे इतिहासकारों का विचार है कि जमींदारों को जमीनों के मालिक मानने का निर्णय मूलतः राजनीतिक, आर्थिक, वित्तीय और प्रशासकीय कारणों से प्रेरित था । इसके तीन मार्गदर्शक कारण थे । इनमें से पहला कारण बुनियादी राजविद्या का परिणाम था अर्थात इसके पीछे राजनीतिक सहयोगी बनाने की आवश्यकता काम कर रही थी । ब्रिटिश अधिकारी यह बात समझ रहे थे कि चूंकि वे भारत में विदेशी हैं, इसलिए उनका शासन तब तक अस्थायित्व का मारा रहेगा जब तक वे अपने और भारतीय जनता के बीच मध्यस्थों का काम करने वाले स्थानीय समर्थकों का सहारा नहीं लेते । इस तर्क का तात्कालिक महत्व भी था क्योंकि 18वीं सदी के अखिरी चतुर्थांश में बंगाल में बड़ी संख्या में जनविद्रोह हुए थे । इसलिए उन्होंने जमींदारों के एक ऐसे धनी और विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग का सृजन किया जो अपने अस्तित्व का कारण ब्रिटिश शासन को समझते थे और इसलिए अपने बुनियादी हितों से बाध्य होकर उसका समर्थन करते थे । वास्तव में यह आशा आगे चलकर एकदम सही साबित हुई क्योंकि स्वाधीनता के उभरते हुए आंदोलन का विरोध करते हुए जमींदारों ने एक वर्ग के रूप में विदेशी सरकार का समर्थन किया ।

दूसरा और संभवतः सबसे महत्वपूर्ण विचार वित्तीय सुरक्षा का था । 1793 से पहले अपनी आय के प्रमुख स्रोत अर्थात जमीन की मालगुजारी में होने वाले उतार-चढ़ावों से कंपनी लगातार पीड़ित रही । चूंकि प्रसार के लिए होने वाले युद्धों में लगी सेना का, बंगाल, मद्रास और बंबई के नागरिक प्रशासन का, और निर्यात के लिए तैयार मालों की खरीद का पूरा खर्च बंगाल के राजस्व से ही उठाया जाता था, इसलिए कंपनी लगातार वित्तीय संकट का शिकार रही । इस्तमरारी बंदोबस्त के कारण एक स्थायी आय की जमानत मिल गई । जमींदारों की नवसृजित संपत्ति ही इसकी जमानत थी । इसके अलावा इस्तमरारी बंदोबस्त ने कंपनी की आय को बहुत अधिक बढ़ा दिया क्योंकि अब मालगुजारी की ऐसी दरें निर्धारित की गईं जैसी दरें पहले कभी भी नहीं थीं । थोड़े से जमींदारों के माध्यम से मालगुजारी की वसूली लाखों काश्तकारों से सीधे संबंध रखने की अपेक्षा बहुत आसान और कम खर्चीली भी लगी ।

तीसरे, आशा की गई कि इस्तमरारी बंदोबस्त के कारण खेतिहार उत्पादन बढ़ा सकेगा । चूंकि यह तय था कि जमींदार की आय बढ़ने पर भी भविष्य में मालगुजारी नहीं बढ़ाई जाएगी, इसलिए जमींदारों को इस बात की प्रेरणा मिली कि वे खेती का क्षेत्रफल और कृषि की उत्पादकता बढ़ाएं जैसा कि ब्रिटेन में वहां के भूस्वामी कर रहे थे ।

जमींदारों के इस्तमरारी बंदोबस्त को बाद में उड़ीसा, मद्रास के उत्तरी जिलों और बनारस जिले में भी लागू कर दिया गया ।

मध्य भारत के कुछ भागों और अवध में अंग्रेजों ने अस्थायी जमींदारी की एक व्यवस्था लागू की । इस व्यवस्था में जमींदारों को जमीन का मालिक तो बना दिया गया पर उन्हें जो मालगुजारी देनी पड़ती थी उसके समय-समय पर पुनर्निर्धारण किया जाता था । विदेशी सरकार की वफादारी के साथ सेवा करने वाले व्यक्तियों को जमीनें देने का सिलसिला जब सरकार ने आरंभ किया तो पूरे भारत में एक और प्रकार के जमींदार पैदा हुए ।

रैयतवारी बंदोबस्त : दक्षिणी और दक्षिण-पश्चिमी भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना से जमीन के बंदोबस्त की नई समस्याएं उठ खड़ी हुईं । अधिकारियों का मत था कि इन क्षेत्रों में बड़ी जागीरों वाले ऐसे जमींदार नहीं हैं जिनके साथ मालगुजारी के बंदोबस्त किए जा सकें और इसलिए वहां जमींदार प्रथा लागू करने से स्थिति उलट-पुलट जाएगी । रीड और मनरो के नेतृत्व में मद्रास के अनेक अधिकारियों ने यह सिफारिश की कि सीधे वास्तविक काश्तकारों के साथ बंदोबस्त किया जाए । उन्होंने यह भी बतलाया कि इस्तमरारी बंदोबस्त की प्रथा में कंपनी वित्तीय दृष्टि से घाटा उठा रही थी क्योंकि उसे मालगुजारी में जमींदारों को हिस्सा देना पड़ता था और वह जमीन से होने वाली आमदनी के बढ़ने पर उसमें से हिस्सा

(1) रैयतवारी — रीड-मुनरो

Scanned with CamScanner

नहीं मांग सकती थी । इसके अलावा काश्तकार अब जमींदारों की दया पर छोड़ दिए गए थे जो उन पर मनमाना जुल्म ढा सकते थे । उन्होंने (मद्रास के अधिकारियों ने) जिस व्यवस्था का प्रस्ताव रखा उसे रैयतवारी बंदोबस्त कहा जाता है । इस प्रथा में काश्तकार जमीन के जिस टुकड़े को जोतता-बोता था उसका मालिक मान लिया जाता था, शर्त यह थी कि वह उस जमीन की मालगुजारी देता रहे । रैयतवारी प्रथा के समर्थकों का दावा था कि यह पहले से ही मौजूद व्यवस्था को ही जारी रखती थी । मुनरो का कहना था : "यह वह प्रथा है जो भारत में हमेशा ही रही है ।" अंततः 19वीं सदी के आरंभ में मद्रास और बंबई प्रेसिडेंसियों के कुछ भागों में रैयतवारी बंदोबस्त लागू किया गया । इस प्रथा के अंतर्गत कोई स्थायी बंदोबस्त नहीं किया गया । प्रत्येक बीस-तीस वर्ष पर इसका पुनर्निर्धारण किया जाता था और तब आम तौर पर मालगुजारी बढ़ा दी जाती थी ।

रैयतवारी बंदोबस्त ने कृषक स्वामित्व की किसी प्रथा को जन्म नहीं दिया किसानों ने भी जल्द ही देख लिया कि अनेक जमींदारों की जगह एक दानवाकार जमींदार ने अर्थात राज्य ने ले ली है, कि वे सरकार के बंटाईदार मात्र हैं जो नियमपूर्वक मालगुजारी न भरें तो उनकी जमीनें बेच दी जाएंगी । वास्तव में आगे चलकर सरकार ने खुलकर यह दावा किया कि जमीन की मालगुजारी कोई कर न होकर लगान है । जमीन पर रैयत के मालिकाना हक को तीन अन्य कारणों ने भी समाप्त कर दिया : (1) अधिकांश क्षेत्रों में निर्धारित मालगुजारी बहुत अधिक होती थी और अच्छे से अच्छे मौसमों में भी रैयत के पास किसी तरह गुजर-बसर करने के साधन ही बचते थे । उदाहरण के लिए मद्रास में जब यह व्यवस्था की गई सरकार ने कुल उत्पादन का 45 से 55 प्रतिशत भाग मालगुजारी के रूप में मांगा । बंबई में भी स्थिति लगभग इतनी ही बुरी थी । (2) सरकार ने जब जी चाहे मालगुजारी बढ़ाने का अधिकार अपने हाथ में रखा । (3) अगर रैयत की फसल सूखा या बाढ़ से थोड़ा-बहुत या पूरी तरह नष्ट हो जाए तो भी उसे मालगुजारी देनी पड़ती थी ।

महलवारी प्रथा : गंगा के दोआब में पश्चिमोत्तर प्रांत में, मध्य भारत के कुछ भागों में और पंजाब में जमींदारी प्रथा का एक संशोधित रूप लागू किया गया जिसे महलवारी प्रथा कहा जाता है । इस व्यवस्था में मालगुजारी की बंदोबस्त अलग-अलग गांवों या जागीरों (महलों) के आधार पर उन जमींदारों या उन परिवारों के मुखियों के साथ किया गया जो सामूहिक रूप से उस गांव या महल का भूस्वामी होने का दावा करते थे । पंजाब में ग्राम प्रथा के नाम से जानी जाने वाली एक संशोधित महलवारी प्रथा लागू की गई । महलवारी क्षेत्रों में भी मालगुजारी का समय-समय पर पुनर्निर्धारण किया जाता था ।

जमींदारी तथा रैयतवारी, ये दोनों प्रथाएं देश की परंपरागत भूमि-प्रथाओं से मूलतः भिन्न थीं । अंग्रेजों ने भूमि में एक नए प्रकार की निजी संपत्ति इस प्रकार पैदा की कि उसका लाभ काश्तकारों को नहीं मिला । पूरे देश में अब भूमि को बेची जा सकने, गिरवी रखी जा सकने और हस्तांतरित की जा सकने वाली वस्तु बना दिया गया । ऐसा मुख्यतः सरकार के राजस्व को सुरक्षित रखने के लिए किया गया । अगर जमीन को हस्तांतरित की जाने तथा बेची जा सकने वाली वस्तु नहीं बनाया जाता तो सरकार के लिए काश्तकार से मालगुजारी वसूल कर सकना बहुत कठिन होता क्योंकि काश्तकार के पास रकम अदा करने के लिए कोई बचत या कोई वस्तु नहीं होती थी । अब वह मालगुजारी जमा कर सकने के लिए जमीन की जमानत देकर धन उधार ले सकता था या उसका एक हिस्सा बेच भी सकता था । अगर वह ऐसा करने से इनकार करता तो सरकार मालगुजारी की रकम निकालने के लिए उसकी जमीन को नीलाम कर सकती थी और अक्सर ऐसा करती भी थी । जमीन को निजी संपत्ति बनाने का एक कारण यह विश्वास भी था कि स्वामित्व का अधिकार मिलने पर ही भूस्वामी या रैयत उसमें सुधार करने के प्रयास करेगा ।

जमीन को आसानी से खरीदा और बेचा जा सकने वाला एक माल बनाकर अंग्रेजों ने देश में प्रचलित भूमि-प्रथाओं में एक बुनियादी परिवर्तन कर दिया । भारतीय ग्रामों का स्थायित्व और उनकी निरंतरता का ढांचा चरमरा उठा । वास्तव में इससे ग्रामीण समाज का पूरा ढांचा ही अब टूटकर बिखरने लगा ।

Scanned with CamScanner

अभ्यास

1. निम्नांकित शब्दों के अर्थ स्पष्ट कीजिए :
मुक्त व्यापार, पूंजीवाद, आर्थिक दोहन, द्वैध शासन, "नवाब" ।
2. उन कारणों का विवेचन कीजिए जिनके चलते ब्रिटिश सरकार तथा ईस्ट इंडिया कंपनी को आपसी संबंधों का पुनर्गठन करना पड़ा ।
3. ब्रिटिश सरकार ने 1765 से 1833 के बीच कंपनी से ब्रिटिश साम्राज्य के लिए के अधिग्रहण के जो कदम उठाए, उनका वर्णन कीजिए ।
4. "इंग्लैंड का औद्योगिक क्रांति ने भारत से इंग्लैंड के आर्थिक संबंधों का पूरी तरह रुपांतरण कर दिया। भारत में ब्रिटिश लोगों ने जो आर्थिक नीति अपनाई, उसके संदर्भ में उपयुक्त कथन की व्याख्या कीजिए ।
5. बंगाल पर ब्रिटिश विजय के आरंभिक काल से अंग्रेजों द्वारा ब्रिटेन के लिए भारतीय संपदा के दोहन का विवेचन कीजिए । "आर्थिक दोहन" को भारत में ब्रिटिश शासन की विशेषता क्यों माना जाता है ?
6. भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान परिवहन और संचार व्यवस्था के विकास का वर्णन कीजिए । यह ब्रिटेन की आर्थिक और राजनीतिक नीतियों से किस प्रकार जुड़ा हुआ था ।
7. भारत में ब्रिटिश शासकों की राजस्व नीति के आधारभूत उद्देश्य क्या थे ? ब्रिटिश शासकों द्वारा आरंभ की गई भूराजस्व व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं का विवेचन कीजिए । भारत की ग्रामीण अर्थव्यवस्था की संरचना पर उसके प्रभावों का वर्णन कीजिए ।
8. 1773 से 1853 के बीच भारतीय मामलों के विषय में ब्रिटिश संसद ने जो विधेयक पारित किए, उनकी एक सूची बनाइए । उनकी मुख्य बातों का उल्लेख करते हुए उन पर अलग-अलग टिप्पणियां लिखिए ।

Scanned with CamScanner